



## साहित्य के माध्यम से राजनीति में नेतृत्व

Dr. Pooja Verma

Department of Hindi, KSBD PG College, Kanpur, Uttar Pradesh, India

### सार

साहित्य और राजनीति में जो फर्क है, वह तो ई. एम. एस. ने स्पष्ट कर ही दिया है कि राजनीति में "अपनी सत्ता को बनाये रखने अथवा सत्ता प्राप्त करने की लड़ाई" होती है, जबकि "साहित्य में सत्ता के लिए कोई सीधा संघर्ष नहीं होता। साहित्यकार वास्तविक जीवन से कलात्मक बिंबों का सृजन करते हैं तथा जनता की खुशियों और तकलीफों को वाणी देते हैं।" जहां तक दोनों के अंतःसंबंधों की बात है, दोनों में अनिवार्य संबंध यह है कि वर्ग-विभक्त समाज में साहित्य क्योंकि वर्ग-संघर्ष से निरपेक्ष नहीं रह सकता, इसलिए उसमें व्यक्त विचार, भावनाएं, सौंदर्याभिरूचियां आदि समाज में जारी वर्ग-संघर्ष के विशिष्ट रूप से प्रभावित होती हैं और उनसे युक्तसाहित्य प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में कमोबेश वर्ग-संघर्ष के उस विशिष्ट रूप को प्रभावित भी करता है। अतः साहित्य और राजनीति के कार्यक्षेत्र यद्यपि भिन्न होते हैं, फिर भी उनकी भिन्न भूमिकाएं एक समान लक्ष्य की दिशा में समाज को प्रेरित करने वाली होती हैं। दोनों के इस अनिवार्य संबंध के आधार पर ही प्रगतिशील साहित्य सामाजिक परिवर्तन में सहायक होता है, जबकि प्रतिक्रियावादी उसमें बाधक बनता है साहित्य और राजनीति में फर्क उस समय ज्यादा दिखाई देता है जब समाज में वर्ग-संघर्ष की प्रक्रिया धीमी होती है, लेकिन ज्योंही वह प्रक्रिया तेज होती है, दोनों का संबंध परोक्ष संबंध न रहकर प्रत्यक्ष और अधिक स्पष्ट हो जाता है। यों भी कह सकते हैं कि जिस हद तक विचार एक भौतिक शक्ति बन सकते हैं, उस हद तक अच्छा साहित्य भी सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में एक अस्त्र बन सकता है। ऐसी स्थिति में साहित्य और राजनीति के अनिवार्य संबंध को रेखांकित करना एक तात्कालिक आवश्यकता बन जाता है।

### परिचय

असल में साहित्य और राजनीति के अंतःसंबंधों की बहस तभी अधिक सार्थक हो उठती है जब साहित्यकारों को अपनी सामाजिक जिम्मेदारी का अहसास करना जरूरी हो जाये, अर्थात् उनको इस बात की ओर सचेत करना जरूरी हो जाये कि उनका साहित्य अनिवार्य रूप से या तो बहुसंख्यक मेहनतकश जनता के हितों का पोषक होगा या विरोधी और उन्हें जरूरी तौर पर यह निर्णय लेना होगा कि उनके साहित्य-कर्म की पक्षधरता किस ओर हो। भारत में आज के जनवादी उभार के साथ ही यह

अहसास भी उभरा कि साहित्य राजनीति से कटकर नहीं, बल्कि दोनों के संबंध को सचेत रूप से समझकर ही सार्थक हो सकता है। [1,2] आज बहुसंख्यक जनता के हितों को साहित्य के माध्यम से आगे बढ़ाने की बात सभी जनवादी लेखक महसूस करते हैं, बहस का मुद्दा केवल यह रहता है कि वे इस जिम्मेदारी को किस रूप में निभायें। एक रूप यह हो सकता है कि साहित्यकार सर्वहारा वर्ग की विचारधारा के साथ राजनीतिक क्षेत्र में सक्रिय हो और राजनीतिक संगठन के अनुशासन में उसके कार्य को आगे बढ़ाने के लिए लेखन का उपयोग करे। दूसरा रूप यह हो सकता है कि वह उस विचारधारा के साथ साहित्य के क्षेत्र में ही सक्रिय रहे और राजनीतिक संगठन से जुड़कर सही समझ तथा जन-संघर्षों में शामिल होकर रचना के लिए आवश्यक अनुभव प्राप्त करके साहित्य को प्राणवान, सार्थक और समाज के लिए अधिक उपयोगी बनाये। साहित्यकार की जिम्मेदारी को निभाने के ये दोनों अलग-अलग ढंग हैं, किन्तु इन दोनों की अपनी सार्थकता है। विभिन्न जनवादी लेखकों को अपनी परिस्थितियों, रूझानों और कार्यक्षमताओं के अनुकूल यह निर्णय लेना होता है कि वे इनमें से कौन-सा ढंग अपनायें। एक जनवादी लेखक की राजनीतिक प्रतिबद्धता कितनी तीव्र हो चुकी है, इससे ही अंततः यह तय होता है कि उसकी साहित्यिक गतिविधियों का राजनीतिक तेवर कितना प्रखर होकर सामने आये। जनवादी साहित्य के उभार के जिस दौर से हम आज गुजर रहे हैं, उसमें विभिन्न साहित्यकारों की राजनीतिक प्रतिबद्धताएं, जाहिर है, एक जैसी अथवा एक ही स्तर की नहीं हो सकतीं। अतः आज के दौर में राजनीति और साहित्य का अनिवार्य संबंध भी अलग-अलग लेखकों की साहित्यिक गतिविधियों में भिन्न रूपों में सामने आयेगा। सभी साहित्यकारों से यह अपेक्षा करना कि वे साहित्य और राजनीति के निकट संबंध को पहचानते हुए लगभग एक जैसी भूमिका निभायें, उचित नहीं होगा, और न ही उन पर एक प्रकार की जिम्मेदारी थोपी जा सकती है। [3,4]

मेरा विचार यह है कि मार्क्सवादी विचारधारा को यांत्रिक रूप में अपनाने, थोपने या मात्र राजनीतिक अनुशासन स्वीकार कर लेने से साहित्यकार अपनी सामाजिक जिम्मेदारी नहीं निभा सकता। एक साहित्यकार के रूप में उसे एक अच्छा लेखक होना चाहिए। अच्छा लेखक होने के लिए यह जरूरी है कि वह जन-

जीवन और जन-संघर्षों का सही और प्रभावशाली चित्रण करने में सक्षम हो, और इसके लिए जरूरी है कि उसकी राजनीति समझ साफ और दृष्टि पैनी हो। लेकिन ऐसी समझ, दृष्टि और लेखन क्षमता-विकसित करने की प्रक्रिया बड़ी पेचीदा है। आज के जनवादी लेखन की समस्या नहीं, बल्कि उस जिम्मेदारी को सही ढंग से न निभा पाने की समस्या है। कुछ लेखक इस समस्या को केवल वैचारिक स्तर पर सुलझा लेने की कोशिश में मार्क्सवादी विचारधारा को कुछ जल्दबाजी में और यांत्रिक रूप से अपना लेते हैं। इस प्रकार के लेखकों की साहित्यिक भूमिका में और उसके माध्यम से वे जो राजनीतिक भूमिका निभाना चाहते हैं, उसमें एक अंतर्विरोध या टकराव-सा पैदा हो जाता है। वे संघर्षरत तबकों की जीवन-स्थितियों को केन्द्रीय विषय के रूप में चुनकर उनका कलात्मक चित्रण कर पाने में अक्षम होने पर भी उन्हीं को केन्द्रीय विषय के रूप में चुनने लगते हैं और इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन में अपनी भूमिका निभाने के लिए अपेक्षित तैयारी से कहीं ज्यादा बड़ी जिम्मेदारी उठा लेते हैं। इससे उनका साहित्य-कर्म पृष्ठ होने के बजाय कमजोर होता है। उनकी भावभूमि और संवेदना प्रायः मध्यवर्गीय होती है। सर्वहारा वर्ग की राजनीति से जुड़कर उनकी दृष्टि का विस्तार तो हो जाता है, लेकिन भावभूमि और संवेदना वही रहती है। फिर भी वे लेखन वैसा ही करना चाहते हैं जैसा सर्वहारा वर्ग के लेखक का होना चाहिए। इसलिए उनका लेखन हल्का और कई बार अप्रामाणिक लगता है। रचनाधर्मिता और राजनीतिक प्रतिबद्धता का यह 'अनावश्यक अंतर्विरोध' 70 के बाद की हिंदी कहानी और कविता दोनों में बहुत सारे रचनाकारों में देखा जा सकता है। कारण यह है कि ऐसे लेखन के लिए उनकी तैयारी अभी पूरी नहीं है।

सामाजिक परिवर्तन के मूल लक्ष्य के आधार पर राजनीति और साहित्य के निकट संबंध की दृष्टि से राजनीतिक कार्यकर्ता और साहित्यकार की भूमिकाएं तथा कार्य-क्षेत्र भिन्न हैं। मसलन, राजनीतिक कार्य में रणनीति के अलावा कार्यनीतियों पर खासा जोर रहता है। साहित्यिक कृति में राजनीतिक मसले और कार्यनीतिक प्रश्न विषयवस्तु के रूप में उठाये जायें, यह जरूरी नहीं है। अर्थात् प्रतिबद्ध साहित्य में यह जरूरी नहीं है कि राजनीतिक कथ्य सीधे रूप में और हमेशा आये। राजनीति के क्षेत्र में कार्यरत बौद्धिकों के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वे दैनंदिन घटनाओं पर रणनीति और कार्यनीति की दृष्टि से लगातार टिप्पणी करें और उन घटनाओं की सही व्याख्या करते हुए जन-आंदोलनों की तात्कालिक आवश्यकताओं से संबंधित व्यावहारिक निष्कर्षों पर पहुंचें। साहित्य में यह आवश्यक नहीं है। विशेष परिस्थितियों में तात्कालिक और स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार प्रचार के लिए राजनीतिक कथ्य सीधे-सीधे रचना में लाया जा सकता है, लेकिन इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि सामाजिक परिवर्तन में साहित्य की यही भूमिका है या कि यही सबसे सही भूमिका है। [5,6]

आज की स्थितियों में एकांतिक रूप से संस्कृति के क्षेत्र में ही काम करने वाले या निरे साहित्यकार लोग कम ही होंगे। उनमें से कुछ ऐसे भी हो सकते हैं जो परिस्थितियों के प्रभाववश

सांस्कृतिक कार्य से राजनीतिक कार्य को प्राथमिकता और वरीयता देने लगें। यह भी हो सकता है कि वे धीरे-धीरे प्रमुख रूप से राजनीतिक कार्यकर्ता बन जायें और सांस्कृतिक या साहित्यिक क्षेत्र से जुड़ी जिम्मेदारियों को सीधे-सीधे न निभा पायें। पर ऐसे लोगों की भी संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में एक विशिष्ट भूमिका बनी रहती है। जनवादी लेखकों, कलाकारों की सांस्कृतिक गतिविधियों के राजनीतिक पहलू को सही ढंग से उभारने तथा उसकी संगठित अभिव्यक्ति को संभव बनाने अथवा पृष्ठ करने में वे एक अहम भूमिका अदा कर सकते हैं। इस लक्ष्य के तहत वे सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं का प्रशिक्षण, संगठन, निर्देशन और नेतृत्व करते हुए साहित्य और राजनीति के क्षेत्रों में एक जरूरी तालमेल पैदा कर सकते हैं। लेकिन यह तालमेल कैसा हो और किस तरह किया जाये, इस पर दोनों क्षेत्रों की भिन्नताओं और विशिष्टताओं को ध्यान में रखते हुए विचार किया जाना चाहिए। [7,8]

वे जनवादी साहित्यकार, जिनकी राजनीतिक प्रतिबद्धता काफी तेज हो चुकी हो, सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रतिबद्ध राजनीतिक दलों को सहयोग देने के लिए कोई मंच या संगठन बनाने की आवश्यकता महसूस कर सकते हैं, लेकिन वह संगठन राजनीतिक संगठन जैसा नहीं हो सकता। चूंकि साहित्यकारों के संगठन में सत्ता का सवाल केन्द्रीय सवाल नहीं होता, इसलिए उसमें निर्देशन और अनुशासन की वैसी आवश्यकता नहीं होती जैसी कि राजनीतिक संगठन के कार्यकर्ताओं के लिए अनिवार्य है। इस बात पर जोर देना आज की परिस्थितियों में इसलिए भी जरूरी है कि जनवादी साहित्यकारों का जो भी संगठन या मंच आज बनाया जा सकता है, उसमें बहुत-से ऐसे लेखकों और कलाकारों का सक्रिय सहयोग लेना आवश्यक होगा जो किसी भी राजनीतिक समझ और राजनीतिक प्रतिबद्धता जनवादी अधिकारों और जनवादी मूल्यों की रक्षा करने के लक्ष्य से बहुत आगे न बढ़ पायी हो।

इसका मतलब यह नहीं कि साहित्यकारों का कोई संगठन नहीं हो सकता या नहीं होना चाहिए, लेकिन साहित्यकारों का संगठन राजनीतिक संगठन से भिन्न होगा और होना चाहिए। संस्कृति के राजनीतिक पहलू का राजनीतिक गतिविधि से तालमेल बिठाने में साहित्यकारों को उस दल का निर्देशन प्राप्त करना उचित ही होगा, जिसे वे सही मानते हैं, लेकिन यह निर्देशन राजनीतिक गतिविधियों के निर्देशन से भिन्न होगा। साहित्यकारों के किसी भी संगठन पर हम 'जनवादी केन्द्रीयतावाद' के सिद्धांत को उस रूप में लागू नहीं कर सकते जिस रूप में इसे राजनीतिक क्षेत्र में लागू किया जाता है और न ही उस संगठन का स्वरूप ट्रेड-यूनियन जैसा हो सकता है। [9,10]

तात्पर्य यह कि जहां तक सांस्कृतिक मंचों के माध्यम से राजनीतिक सवालों और साहित्यकारों की गतिविधियों को 'कोआर्डिनेट' करने का कार्य है, वह तो आज के दौर में जरूरी-सा हो गया है। वर्ग-संघर्ष के तेज हो जाने पर सामाजिक परिस्थितियों की यह मांग हो जाती है कि सांस्कृतिक कार्यकर्ता जब-तब केवल व्यक्तिगत रूप में ही नहीं, अपितु सामूहिक रूप में भी राजनीतिक हस्तक्षेप करें। सांस्कृतिक गतिविधियों के

राजनीतिक पक्ष की संगठित अभिव्यक्ति करते समय साहित्यकारों के विशिष्ट संगठन जिस दल को भी वे उचित समझते हैं, उसका निर्देशन ले सकते हैं' लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि राजनीतिक दल और सांस्कृतिक संगठन एक-दूसरे के सहयोगी और पूरक तो हो सकते हैं, पर अभिन्न या एक जैसे नहीं हो सकते। अतः साहित्यकारों के संगठन का सवाल, न केवल सांस्कृतिक क्षेत्र का सवाल है, न केवल राजनीतिक क्षेत्र का, दरअसल यह दोनों के तालमेल का सवाल है और साहित्य और राजनीति के अनिवार्य अंतःसंबंध के सवाल के केवल एक पक्ष को ही लक्षित करता है।

इस प्रकार के तालमेल के अलावा भी साहित्य और राजनीति के अनिवार्य अंतःसंबंध के कुछ अन्य रूप हो सकते हैं। सांस्कृतिक गतिविधियों के राजनीतिक आयाम को रचनाओं के माध्यम से ही उभारना और उसका विस्तार करना भी एक महत्वपूर्ण जिम्मेदारी है। और इसमें राजनीति की भूमिका होती है लेखकों की समझ को निखारने की और व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उनके अनुभव और चिंतन को सही दिशा देने की। यह काम साहित्य की सही आलोचना, गोष्ठियों, सम्मेलनों, परिचर्चाओं, पत्रिकाओं आदि के माध्यम से सार्थक और महत्वपूर्ण रचना का वातावरण बनाकर किया जा सकता है। कहने की जरूरत नहीं कि इससे साहित्य का विकास होता है और उससे सही राजनीति भी आगे बढ़ती है। आज की परिस्थितियों में, जबकि राजनीतिक गतिविधियां बढ़ रही हैं, साहित्यकारों को यह मानकर चलना चाहिए कि उन्हें अधिक-से-अधिक राजनीतिक जिम्मेदारियां निभानी पड़ेंगी। इन जिम्मेदारियों को निभाने के लिए साहित्यकार को राजनीतिक दल से उपयुक्त शिक्षा और निर्देशन मिल सकता है, लेकिन राजनीतिक दल को यह ध्यान रखना होगा कि साहित्यकारों का मार्गदर्शन करने की उसकी भूमिका उनकी राजनीतिक समझ को विकसित, परिष्कृत करने तक ही मुख्यतः सीमित रहे। दूसरी तरफ साहित्यकार को यह मुगलता नहीं पालना चाहिए कि वह साहित्य के माध्यम से राजनीति को दिशा या नेतृत्व प्रदान कर सकता है।[11]

हम जिस दौर से गुजर रहे हैं, उसमें साहित्य और राजनीति दोनों के तालमेल की आवश्यकता बढ़ती जा रही है, लेकिन इसके चलते दोनों क्षेत्रों की विशिष्टता को नहीं भूलना चाहिए। साहित्य के माध्यम से राजनीतिक कार्य कुछ हद तक तो किया जा सकता है, लेकिन राजनीतिक क्षेत्र की प्राथमिकताएं साहित्य के क्षेत्र की प्राथमिकताएं नहीं हो सकतीं। अतः आज जिस बात पर ज्यादा जोर देने की जरूरत है, वह यह है कि साहित्यकार साहित्य और राजनीति के अनिवार्य संबंध को समझें, सामाजिक परिवर्तन की राजनीति गतिविधियों से अपनी साहित्यिक गतिविधियों का तालमेल बढ़ायें, सही राजनीतिक दल से जुड़ने का प्रयास करें, जिससे सामाजिक यथार्थ की सही समझ विकसित करना उनके लिए अधिक संभव हो सके और वे जन-जीवन और जन-संघर्षों के अपने अनुभवों को समृद्ध और व्यापक बना सकें तथा उनका सही और प्रभावशाली चित्रण करने में सक्षम हों। जाहिर है कि साहित्य के क्षेत्र में सक्रिय होने के कारण उनकी प्राथमिकताएं साहित्य के क्षेत्र की प्राथमिकताएं होंगी, लेकिन उन्हें यह बात

हमेशा याद रखनी चाहिए कि लेखन आपकी प्रमुख भूमिका हो भी तो वह जीवन का व्युत्पन्न (बाइप्रोडक्ट) ही है, जीवन का स्थानापन्न (सब्सटीट्यूट) नहीं। लेखन किसी उद्देश्य के लिए होता है, अपने आप में वह कोई पर्याप्त उद्देश्य नहीं हो सकता। जो लेखक जीने के लिए, अर्थात् एक बेहतर समाज में बेहतर ढंग से जीने के लिखता है, वही अच्छा लेखन कर सकता है इसके विपरीत जो लेखक लिखने के लिए जीता है, वह घटिया लेखन करता है।

### विचार-विमर्श

हाल ही में "लोकनीती CSDS (Centre for Study of Developing Societies) और कोनराड एडेनॉयर स्टिफ्टिंग (Konrad Adenauer Stiftung)" ने एक सर्वेक्षण रिपोर्ट जारी की, जिसमें भारतीय महिलाओं और उनकी राजनीतिक सक्रियता से संबंधित विभिन्न पहलुओं पर अध्ययन किया गया।

### सर्वेक्षण के मुख्य निष्कर्ष इस प्रकार हैं: राजनीति में महिलाओं की भागीदारी:

- सर्वेक्षण में पाया गया कि महिलाओं की चुनावी भागीदारी में उनकी सामाजिक व आर्थिक स्थिति का विशेष प्रभाव होता है। उच्च सामाजिक वर्ग (जाति) व आर्थिक वर्गों की महिलाओं में राजनीतिक भागीदारी अधिक पाई गई, जबकि निम्न सामाजिक-आर्थिक तबके की महिलाओं में यह भागीदारी अत्यधिक कम थी।
- हालाँकि पिछले कुछ वर्षों में चुनावों में मतदाता के रूप में महिलाओं की भूमिका बढ़ी है। अनेक राज्यों में हुए विभिन्न चुनावों में महिलाएँ पुरुषों के समान मतदान कर रही हैं, जबकि कई स्थानों पर वे पुरुषों की तुलना में अधिक मतदान कर रही हैं।
- इसके अलावा महिलाएँ अपनी राजनैतिक पसंद को लेकर भी स्वायत्त हो रही हैं किंतु यह प्रचलन भी शहरी क्षेत्र की तथा शिक्षित महिलाओं में अधिक देखा गया।

### राजनीति में पुरुषों का वर्चस्व:

- इस सर्वेक्षण के माध्यम से यह ज्ञात हुआ कि महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी में पुरुषों का वर्चस्व मुख्य बाधकों में से एक है। 50 वर्ष से अधिक उम्र की दो-तिहाई महिलाओं का मानना है कि पुरुषों के राजनीतिक वर्चस्व के कारण महिलाओं को राजनीति में अवसर नहीं मिलता, जबकि 20-25 वर्ष की आधी महिलाओं की राय इसके विपरीत है।
- इसके अलावा अधिकांश महिलाओं का मानना है कि भारतीय मतदाता महिलाओं की तुलना में पुरुष उम्मीदवारों के पक्ष में अधिक मत देते हैं।
- राजनीतिक अवसरों में किसी चुनाव लड़ना, राजनीतिक दल का टिकट मिलना तथा चुनाव जीतने की प्रायिकता आदि को शामिल किया गया है।[12]

### सामाजिक-राजनीतिक पृष्ठभूमि:

- सर्वेक्षण के माध्यम से यह पता चला कि किसी महिला के लिये राजनीति में भाग लेने के लिये उसकी पृष्ठभूमि महत्वपूर्ण है। अधिकांश महिलाओं ने यह माना कि ऊँची जाति की महिलाओं के लिये राजनीति में हिस्सा लेना आसान



है, जबकि निम्न जाति की महिलाओं के लिये यह तुलनात्मक रूप से कठिन है।

- इसके अलावा राजनीतिक पृष्ठभूमि वाली महिला के लिये किसी गैर-राजनीतिक पृष्ठभूमि वाली महिला की तुलना में राजनीतिक गतिविधियों में हिस्सा लेना आसान है।

#### घरेलू स्तर पर राजनीतिक निर्णयन में पितृसत्ता का प्रभाव:

- अधिकांश महिलाओं का मानना है कि घरों में राजनीतिक निर्णय लेने में उन्हें कम स्वायत्तता प्राप्त होती है। इसका मुख्य कारण पितृसत्तात्मक समाज तथा रूढ़िवादी सामाजिक ढांचा है।

#### राजनीतिक समाचारों में रुचि:

- इस सर्वेक्षण द्वारा यह पाया गया कि 71% महिलाओं ने विभिन्न माध्यमों से राजनीतिक समाचारों को पढ़ने में रुचि प्रदर्शित की। ये माध्यम मीडिया, न्यूज़ चैनल, सोशल मीडिया, व्हाट्सएप आदि हो सकते हैं।
- समाचारों में रुचि भी महिलाओं की सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि के अनुसार प्रभावित होती है। उच्च सामाजिक-आर्थिक वर्ग की महिलाओं में यह प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है।
- इसके अलावा कम उम्र की कॉलेज में पढ़ने वाली, अविवाहित तथा शहरी महिलाओं में राजनीतिक समाचारों के प्रति रुचि अधिक होती है।

#### सोशल मीडिया के माध्यम से राजनीतिक भागीदारी:

- सोशल मीडिया के माध्यम से राजनीति में भागीदारी करने के मामले में महिलाओं की संख्या काफी कम है।
- सर्वेक्षण में केवल 17% महिलाओं ने स्वीकार किया कि वे किसी भी प्रकार से सोशल मीडिया पर राजनीतिक रूप से सक्रिय हैं, जबकि 83% महिलाओं ने कहा कि सोशल मीडिया पर राजनीतिक रूप से बिल्कुल सक्रिय नहीं हैं।

#### राजनीतिक भागीदारी में महिलाओं की स्वायत्तता:

- हालाँकि विगत कुछ वर्षों में महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी में वृद्धि हुई है लेकिन सर्वेक्षण में लगभग 66% महिलाओं ने कहा कि वे राजनीतिक निर्णय लेने के मामले में अभी भी स्वायत्त नहीं हैं।

#### राजनीति में महिलाओं की कम भागीदारी के निम्नलिखित कारण हैं:

##### पितृसत्तात्मक समाज:

- राजनीति में महिलाओं की कम भागीदारी के मुख्य कारणों में पितृसत्तात्मक समाज तथा इसकी संरचनात्मक कमियाँ हैं। इसकी वजह से महिलाओं को कम अवसर मिलते हैं तथा वे राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धा में पुरुषों से काफी पीछे रह जाती हैं।
- लगभग एक-तिहाई महिलाओं ने पितृसत्तात्मक समाज को उनकी राजनीतिक भागीदारी में बाधा के रूप में देखा।[13]

##### घरेलू जिम्मेदारियाँ:

- सर्वेक्षण में अधिकांश महिलाओं ने स्वीकार किया कि घरेलू जिम्मेदारियाँ जैसे- बच्चों की देखभाल, घर के सदस्यों के

लिये खाना बनाना व अन्य पारिवारिक कारणों से वे राजनीति में भाग नहीं ले पातीं।

- लगभग 13% महिलाओं ने राजनीति में उनकी कम भागीदारी के लिये घरेलू जिम्मेदारियों को कारण माना।

##### व्यक्तिगत कारण:

- कई महिलाएँ व्यक्तिगत कारणों की वजह से भी राजनीति में सक्रिय रूप से भाग नहीं लेतीं। ये व्यक्तिगत कारण हैं- राजनीति में रुचि न होना, जागरूकता का अभाव, शैक्षिक पिछड़ापन आदि।
- लगभग 10% महिलाएँ व्यक्तिगत कारणों से राजनीति में हिस्सा लेने में सक्षम नहीं हैं।

##### सांस्कृतिक प्रतिबंध एवं रूढ़िवाद:

- सांस्कृतिक मानदंडों तथा रूढ़िवादिता के कारण भी महिलाएँ राजनीति में भाग नहीं ले पातीं। सांस्कृतिक प्रतिबंधों में पर्दा प्रथा, किसी अन्य पुरुष से बातचीत न करना, महिलाओं का बाहर न निकलना आदि शामिल हैं।
- लगभग 7% महिलाओं ने माना की सांस्कृतिक कारणों से वे राजनीति में भाग नहीं लेतीं।

##### सामाजिक-आर्थिक कारण:

- कमजोर सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि भी महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी में अवरोध उत्पन्न करते हैं।[14]

##### राजनीति की नकारात्मक छवि:

- आम लोगों में राजनीति की नकारात्मक छवि तथा इसमें व्याप्त भ्रष्टाचार की वजह से भी महिलाएँ राजनीति में कम रुचि लेती हैं।

##### महिलाओं को लेकर राजनीतिक दलों की उदासीनता:

- राष्ट्रीय स्तर की राजनीति में महिलाओं की भागीदारी को लेकर देश के राजनीतिक दलों तथा सरकारों ने उदासीनता प्रदर्शित की है।
- प्रस्तावित महिला आरक्षण विधेयक (Women Reservation Bill), जो कि संसद तथा राज्य की विधानसभाओं में महिलाओं के लिये आरक्षण का प्रावधान करता है, को पारित करने में सभी राजनैतिक दल निरुत्साहित प्रतीत होते हैं। \
- इसका मुख्य कारण यह है कि पुरुष राजनीतिज्ञों को इस बात का भय रहता है कि महिलाओं के निर्वाचन से उनके दोबारा चुने जाने की संभावना कम या समाप्त हो सकती है जिसके लिये वे तैयार नहीं हैं।

##### राजनीति में महिलाओं की भागीदारी में वृद्धि हेतु आवश्यक उपाय:

##### संसद में महिलाओं के लिये आरक्षण:

- हालाँकि भारतीय संविधान में 73वें और 74वें संशोधन द्वारा महिलाओं के लिये स्थानीय निकाय की एक-तिहाई सीटों के आरक्षण का प्रावधान किया गया है लेकिन राजनीति में महिलाओं की समान भागीदारी सुनिश्चित करने के लिये अन्य प्रयास किये जाने की भी आवश्यकता है।

- महिलाओं को लोकसभा और सभी राज्यों की विधानसभाओं में 33% आरक्षण प्रदान करने संबंधी महिला आरक्षण विधेयक को तत्काल पुरःस्थापित एवं पारित किये जाने की आवश्यकता है।

### राजनीतिक दलों में महिलाओं के लिये आरक्षण:

- यद्यपि यह कदम महिला सांसदों की संख्या में वृद्धि के संबंध में कोई ठोस आश्वासन प्रदान नहीं करता है किंतु राजनीति में महिलाओं की पर्याप्त संख्या सुनिश्चित करने के लिये यह ठोस कदम हो सकता है।
- विश्व के कई देशों में यह प्रावधान किया गया है जैसे- स्वीडन, नॉर्वे, कनाडा, ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस आदि।

### महिलाओं के सर्वांगीण विकास हेतु माहौल प्रदान करना:

- राजनीति व अन्य विविध क्षेत्रों में महिलाओं की भागीदारी बढ़ाने के लिये आवश्यक है कि समाज में प्रत्येक स्तर पर महिला सशक्तीकरण तथा उनकी सामुदायिक भागीदारी के लिये प्रयास किये जाएँ ताकि उनमें आत्मविश्वास, नेतृत्व क्षमता आदि गुणों का विकास हो।

### परिणाम

प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन का इतिहास प्रगतिशील लेखक संघ के संगठन संबंधी पहलुओं की उपेक्षा करके नहीं लिखा जा सकता। प्रगतिशील आंदोलन पर प्रकाशित चाहे स्वतंत्र समीक्षा कृतियाँ हों अथवा अनुसंधानपरक ग्रंथ हों, सभी इस दुर्बलता के कारण वैज्ञानिक विवेचन की वस्तुगत दृष्टि से रहित हैं। पहली बार यह प्रयत्न किया जा रहा है कि प्रगतिशील आंदोलन को सही ऐतिहासिक सन्दर्भ में और प्रगतिशील लेखक संघ के संगठन की संचालक भूमिका के सुसंबद्ध पार्श्वपट में रखकर देखा जाए।

विदेशी दासता और सामंती जूए के नीचे छटपटाती भारत की उत्पीड़ित जनता सन 1930 के बाद संघर्ष के जिस दौर से गुजर रही थी, उसमें प्रगतिशील बुद्धिजीवियों का संगठित होना स्वाभाविक था। लेखकों को संगठित करने का प्रयास हिंदी साहित्य सम्मेलन की ओर से भी हो रहा था। प्रगतिशील लेखक संघ और हिंदी साहित्य सम्मेलन के अतिरिक्त आगे चलकर 'परिमल' नामक एक साहित्यिक संगोष्ठी के मंच पर भी लेखकों को संगठित किया गया। छायावादोत्तर युग में इन तीनों लेखकीय संगठनों के परस्पर संघर्ष की पृष्ठभूमि में तत्कालीन सृजनात्मक साहित्य के भीतर मौजूद प्रगतिशील और प्रतिगामी विचारधारात्मक रुझानों में मदद मिलती है।

स्वाधीनता और सामाजिक क्रांति की जिन मांगों के दबाव में सन 1936 से पहले ही अनेक प्रकार के संगठनों की स्थापना का सिलसिला चल रहा था। सांस्कृतिक और बौद्धिक स्तर पर लगभग उन्हीं मांगों के ऐतिहासिक कार्यभार की पूर्ति के लिए प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की गयी थी। प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना से पहले के सृजनात्मक साहित्य को यदि ध्यान से देखें तो

पता चलता है कि सन 1930 के आसपास किसान समस्या, सामाजिक उत्पीड़न, स्त्री पराधीनता की समस्या और स्वाधीनता का प्रश्न रचनाशीलता के केंद्र में उपस्थित हो गया था जिसे उस दौर के सभी महत्वपूर्ण सृजनकर्मी यथार्थ के सम्पूर्ण द्वंद्व के संदर्भ में प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहे थे। हिंदी के मध्यवर्गीय सहसा किसानों के प्रति इतना गहरा लगाव क्यों अनुभव करने लगे? किसानों के प्रति 'बौद्धिक सहानुभूति' अथवा 'क्रांतिकारी एकात्मता' का यह भाव अचानक सुसंगत रूप में क्यों व्यक्त होने लगा? जिस तरह इन प्रवृत्तियों के मूल कारण तत्कालीन परिस्थितियों में निहित हैं, उसी तरह प्रगतिशील लेखक संघ के गठन की भावना भी उन्हीं परिस्थितियों से पैदा हुई थी।

कुछ लोग यह कहते हैं कि प्रगतिशील लेखक संघ और प्रगतिवाद का आंदोलन – यह सब विदेश से उधार लिया गया साहित्यिक फसाद था; रूस की प्रेरणा से गठित कम्युनिस्ट पार्टी से संचालित था और तत्कालीन भारत के यथार्थ के द्वंद्वों, राष्ट्रीय जीवन की अनिवार्यताओं तथा हिंदी-उर्दू की जातीय आवश्यकताओं की तार्किक परिणति न था। इस तरह के आक्षेप करने वाले समीक्षक, स्वाभाविक है कि अपने ढंग के निष्कर्ष भी निकालते हैं। वह यह कि चूँकि प्रगतिशील आंदोलन बाहर से लाई गयी चीज़ थी, अतः हिंदी में उसका विकास जातीय भावभूमि से प्रतिकूल दिशा में हुआ और इसी कारण से यह अल्प अवधि में ही बिखर गया।

अभी इन आरोपों, प्रत्यारोपों, आक्षेपों और समाधानों के इतिवृत्त में न आकर यह देखना अधिक प्रासंगिक है कि क्या संगठन बनाने की कोशिश सन 1936 से पहले नहीं हो रही थी? क्या हिंदी साहित्य सम्मेलन साम्प्रदायिकता और पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियों के प्रचार-प्रसार का केंद्र नहीं था? क्या समसामयिक साहित्य की नवीन उदभावनाओं और रचनात्मक नवोन्मेष का सशक्त विरोध हिंदी साहित्य सम्मेलन की ओर से नहीं हो रहा था[15]

हिंदी साहित्य सम्मेलन के पदाधिकारियों तथा पुरानी पीढ़ी के दिग्गज साहित्यकारों द्वारा छायावाद का विरोध किया जा रहा था। 'पल्लव' को पुरुस्कार की दृष्टि से हेय रचना मानना और 'विरासतसई' को पुरुस्कार देना - इसी विरोध की चरम अभिव्यक्ति थी। नयी पीढ़ी के साहित्यकार और साहित्यरसिक साहित्य सम्मेलन के इस पुरातनपंथी रवैये से क्षुब्ध थे। उस समय के साहित्यिक परिवेश में निहित अन्तर्विरोध को रेखांकित करते हुए 'दिनकर' ने ठीक ही कहा है कि पुराने और नए स्कूल के प्रतिनिधियों के बीच का संघर्ष 1928 में मुखर रूप ले चूका था।[11]

1929 में एकाएक साहित्य सम्मेलन के पदाधिकारियों के चुनाव में नई पीढ़ी के प्रतिनिधियों की विजय होती है। गणेश शंकर विधार्थी अध्यक्ष और रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी प्रचार मंत्री चुने जाते हैं। इसी वर्ष कांग्रेस के अध्यक्ष पद के लिए पं. जवाहरलाल नेहरू का चुनाव होता है। साहित्य

और राजनीति – दोनों पर पुरातनपंथी लोग हटाए जाते हैं। निराला इस परिवर्तन का पूरे उत्साह से स्वागत करते हैं: 'युवकों की ऐसी विजय प्राचीनताभक्त भारत में इधर शताब्दियों से देखने को नहीं मिली।'

पर साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद पर गणेश शंकर विधार्थी ज्यादा दिन नहीं रह पाए। कानपुर के एक सांप्रदायिक दंगे में उनकी हत्या कर दी गई।

अतः परिस्थिति ने पलटा खाया और साहित्य सम्मेलन के विभिन्न पदों पर पुनः 'प्राचीनताभक्त' ही स्थापित कर दिया गए। इन्हीं प्राचीनताभक्तों ने समस्यापूर्ति की साहित्यिक प्रणाली की रक्षा की अनथक कोशिश की, मुक्तचंद्र का विरोध किया, उग्र के 'चाकलेट' के यथार्थवाद का विरोध करने के लिए 'घासलेटी साहित्य' का आंदोलन चलाया और प्रेमचंद्र को विदेशी कथाकारों की रचनाओं का अपहरणकर्ता कहकर कलंकित करने की कोशिश की। 'दिनकर' ने 1930 के आसपास के इस 'कोलाहल' मनोविज्ञान को समझने की कोशिश की है: 'हमारी उपेक्षा और अनादर के प्रधान कारण ये सिंहासनस्थ वृद्ध साहित्यिक हैं।'

अतएव अपनी रचनाओं में नए साहित्यिक हृदय का सारा विष इन वयोवृद्ध साहित्यिकों पर ही उड़ेलते थे। कलकत्ते के 'नारायण' में गुलाब रत्न वाजपेयी 'गुलाब' ने लिखा था:

सो जाओ हे वृद्ध विकल  
इस प्रचंड अंधड़ के सम्मुख,  
ग्रीष्मकाल की वायु विफल।

नयी पीढ़ी की जीवंत रचनात्मक 'प्रचंड अंधड़' है और उसे वृद्ध लोग रोकने की व्यर्थ चेष्टा कर रहे हैं। और ये वृद्ध लोग हैं कौन? 'सिंहासनस्थ वृद्ध साहित्यिक'।

विचारधारा और दृष्टिकोण के स्तर पर न केवल साहित्य सम्मेलन के द्वारा बल्कि पुरानी पीढ़ी के संपादकों के द्वारा भी पुरातनप्रियता, पुनरुत्थानवाद, हिन्दू रूढ़ीवाद आदि को प्रश्रय और संरक्षण मिल रहा था। पं. जवाहरलाल नेहरू ने 1933 के साहित्यिक परिवेश का 'मेरी कहानी' में उल्लेख किया है। उससे भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है।

## निष्कर्ष

**भारत की राजनीति और भारत के राजनीतिक दलों में अन्य किसी भी देश की तुलना में नेतृत्व की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण रही है, जो निम्न प्रकार से हैं-**

### 1. भारतीय राजनीति में नेतृत्व के तत्व की अतिमहत्वपूर्ण स्थिति-

**भारतीय राजनीति** में 1950-64 के वर्षों में पं. नेहरू तथा 1971-72 के वर्षों में **श्रीमती गाँधी** को चमत्कारिक नेतृत्व की स्थिति प्राप्त रही है। कुछ सीमा तक भारतीय राजनीति में **वाजपेयी** एवं **नरेन्द्र मोदी** को यह स्थिति प्राप्त रही है जो वर्तमान में जारी है।

**पं. नेहरू** तथा उसके बाद **श्रीमती गाँधी** जब तक प्रधानमंत्री पद पर आसीन रही, भारत की समस्त राजनीति उनके व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द घूमती रही। 1984 में **श्रीमती गाँधी** के निधन के बाद 1985 से 1999 तक की राजनीति को प्रभावित करने वाले कुछ प्रमुख व्यक्तित्व रहे- राजीव गाँधी, वी.पी. सिंह, चन्द्रशेखर, नरसिम्हा राव, अटल बिहारी वाजपेयी, सोनिया गाँधी और लालकृष्ण आडवाणी आदि।

1996-2004 के वर्षों का राजनीतिक सत्य और राजनीतिक असंगति यह है कि कुछ प्रादेशिक व्यक्तित्वों ने भी अपने लिए राष्ट्रीय राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। 2004 से 2014 तक भारतीय राजनीति का नेतृत्व **डॉ. मनमोहन सिंह** व **सोनिया गाँधी** के नेतृत्व में रहा। मई 2014 से अब तक भारतीय राजनीति में **नरेन्द्र मोदी** का चेहरा एक नये नेतृत्व के रूप में उभरकर आया है जिसने केन्द्र में अकेले भाजपा को 282 सीटें दिलाकर भारतीय राजनीति में नेतृत्व का परचम लहराया। मई, 2019 के लोकसभा चुनावों में 303 सीटें अकेले अपने दम पर लाने में **नरेन्द्र मोदी** सफल रहे।

### 2. नेतृत्व के प्रसंग में जन-जागरूकता की स्थिति-

**भारतीय राजनीति** ने नेतृत्व के प्रसंग में जनता की जागरूकता का परिचय दिया है। 1975-76 में जब **श्रीमती गाँधी** ने लोकतांत्रिक मर्यादाओं की अवहेलना की तब जनता ने **श्रीमती गाँधी** को उनका स्थान बतला दिया था। इसी प्रकार **राजीव गाँधी** की राजनीतिक भूल बर्दाश्त के बाहर हो गई, तब जनता ने सत्ता परिवर्तन का मार्ग अपना लिया। इसी प्रकार **डॉ. मनमोहन सिंह** सरकार की कमियों के बाद **नरेन्द्र मोदी** के नेतृत्व में दिखायी देने वाली जनजागरूकता वर्तमान स्थिति का जीता जागता उदाहरण है। इस प्रकार जनता नेतृत्व के प्रति लगाव और कुछ सीमा तक श्रद्धा रखती है, लेकिन किसी भी रूप में यह अन्ध श्रद्धा नहीं है। नेतृत्व के प्रति जनता का यह लगाव तथा उनकी यह श्रद्धा लोकतांत्रिक सीमाओं के भीतर है।[13]

### 3. सामान्यतया नेतृत्व का निर्णय मतपेटी के आधार पर, लेकिन कुछ अपवाद-

भारत में अब तक 17 आम चुनाव हो चुके हैं जिनके नेतृत्व का प्रश्न का निर्माण मतपेटी के आधार पर हुआ है। भारतीय राजनीति में दो अवसर ऐसे आए जिनमें नेतृत्व के प्रश्न का निर्णय बहुत कुछ सीमा तक **छलयोजित राजनीति** (Manipulative Politics) के आधार पर हुआ है। 1979 में चरणसिंह और 1990 में चन्द्रशेखर द्वारा **प्रधानमंत्री** पद का ग्रहण छलयोजित राजनीति का उदाहरण ही कहा जा सकता है। 13वीं लोकसभा के चुनाव 1999, चौदहवीं लोकसभा के चुनाव 2004, पन्द्रहवीं लोकसभा के चुनाव 2009 तथा 16वीं लोकसभा के चुनाव 2014 में एवं 17वीं लोकसभा के चुनाव 2019 में नेतृत्व के प्रश्न का निर्णय मतपेटी के आधार पर ही हुआ है।

**4. जनता के सीधे समर्थन से प्राप्त नेतृत्व ही उचित स्थिति-** वर्ष 1952, 1957, 1962, 1971, 1980, 1984 और 1999, 2014 एवं 2019 की स्थितियाँ ऐसी रही जिनमें नेतृत्व की स्थिति को सम्बन्धित व्यक्ति ने अपनी ही राजनीतिक शक्ति के बलबूते पर



प्राप्त किया है। 1962, 1967, 1977, 1989, 1996 और 1997 की स्थितियाँ ऐसी रही हैं जिनमें **नेतृत्व** की स्थिति को अन्य व्यक्तियों के सहारे और सहयोग से प्राप्त किया गया। इस प्रसंग में **भारतीय राजनीति** का पाठ यह है कि जब कोई व्यक्ति **नेतृत्व** की स्थिति अपनी ही राजनीतिक शक्ति और जनता के सीधे समर्थन के बल पर प्राप्त करता है तो वह आत्मविश्वास के साथ कार्य करने में समर्थ होता है लेकिन जब **नेतृत्व** की स्थिति को अन्य तत्वों के समर्थन और सहयोग के बल पर प्राप्त करता है, तब **नेतृत्व** की स्थिति स्वाभाविक रूप से निर्बल हो जाती है।

### 5. नेतृत्व की कथनी और करनी में भेद-

**नेता वर्ग** और **नेतृत्व** की दृष्टि से जहाँ एक ओर भारत को भाग्यशाली कहा जाता है, वहाँ दूसरी ओर नेता वर्ग और **नेतृत्व** का ऋणात्मक पक्ष भी है। **भारतीय नेतृत्व** की कथनी और करनी में बड़ा अन्तर देखा जा सकता है। नेतृत्व जितने ऊँचे स्तर में **समाजवाद** और लोक कल्याण की बात करता है। व्यवहार के अन्तर्गत उतने ही प्रबल रूप में **पूँजीवाद** का पक्ष ग्रहण किया जाता है। यही कारण है कि भूमि सुधार कानून और साधारण जनता की स्थिति में सुधार के अन्य सभी प्रयत्न कागज पर ही रह गये हैं और व्यवहार में धनी तथा गरीब का भेद कम होने की बजाय बढ़ा ही है।

**गुन्नार मिंडल** के अनुसार गत लगभग एक दशक से और विशेष रूप से 1999-2004 के वर्षों में केन्द्र और राज्यों में सर्वोच्च स्तर का राजनीतिक अभिजन कठिन वित्तीय स्थिति की रट लगाए हुए था लेकिन केन्द्रीय स्तर पर या किसी भी राज्य स्तर पर राजनीतिक खर्चों और राजनीतिक रख-रखाव से जुड़े खर्चों में कमी लाने का कोई भी प्रयत्न नहीं किया गया। इस देश का राजनीतिज्ञ और वस्तुतः न केवल राजनीतिज्ञ वरन् देश का लगभग समस्त अभिजन एक स्थिति से सर्वाधिक परहेज करता है और वह है आत्म निरीक्षण। इस प्रकार भारतीय लोकतंत्र में नेतृत्व की भूमिका सदैव ही बहुत अधिक महत्वपूर्ण रही है और आगे आने वाले समय में भी **नेतृत्व** की भूमिका महत्वपूर्ण ही रहेगी।[15]

### संदर्भ

1. रामधारीसिंह दिनकर: 'मिट्टी की ओर', उदयाचल प्रकाशन; पटना, 1946, पृ. 147।
2. जवाहरलाल नेहरू: 'मेरी कहानी', ग्यारहवां संस्करण, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 1965, पृ. 635-636।
3. अमृत राय: 'कलम का सिपाही', प्रथम संस्करण, हंस प्रकाशन, इलाहबाद, 1962, पृ. 544-45।
4. रजनी पामदत्त: 'भारत: वर्तमान तथा भावी', प्रथम संस्करण, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1956, पृ. 221।
5. राममनोहर लोहिया: 'समाजवादी आंदोलन का इतिहास', प्रथम संस्करण, राममनोहर लोहिया समता न्यास विद्यालय, हैदराबाद, 1969, पृ. 19।
6. हंसराज रहबर: 'प्रगतिवाद: पुनर्मूल्यांकन', प्रथम संस्करण, नवयुग प्रकाशन, दिल्ली, 1966, पृ. 25 पर सज्जाद ज़हीर की उर्दू पुस्तक 'रोशनाई' से उद्धृत।
7. जनेश्वर वर्मा: 'हिंदी काव्य में मार्क्सवादी चेतना', ग्रंथम, कानपुर, प्रथम संस्करण, 1976, पृ. 305-06।
8. रांगेय राघव: 'प्रगतिशील साहित्य के मानदंड', सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा, प्रथम संस्करण, 1954, पृ. 7।
9. धर्मवीर भारती: 'प्रगतिवाद: एक समीक्षा', साहित्य भवन लि., प्रयाग, प्रथम संस्करण, 1949, पृ. 14।
10. रामविलास शर्मा: 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं', विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, दूसरा संस्करण, 1957, पृ. 138।
11. रामविलास शर्मा: 'निराला की साहित्यसाधना', खंड-1, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1969, पृ. 351।
12. शिवदान सिंह चौहान: 'साहित्य की समस्याएं', आत्माराम एंड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1959, पृ. 292।
13. रामविलास शर्मा: 'भाषा और समाज', प्रथम संस्करण, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1961, पृ. 316।
14. 'आज के लोकप्रिय हिंदी कवि: भगवतीचरण वर्मा', राजपाल एंड संस, प्रथम संस्करण, 'परिचय', पृ. 20।
15. 'आधुनिक साहित्य', भारती भंडार, इलाहबाद, द्वितीय संस्करण, संवत् 2013 वि., पृ. 389।